महाबोधि

श्रीश्रीमाँ

अन्तरात्मा को वहिर्विश्व के रूप में एवं वाह्यविश्व को अन्तरात्मा के रूप में दर्शन करना ही सर्व साधना की सिद्धि है। स्वयं को वाङ्मय कहकर अनुभव करना तथा विश्व को वाङ्मय रूप में पहचानना ही ''अग्निचयन'' है। वाक् ही अग्नि है। नचिकेता द्वारा ''अग्निचयनविद्या'' यम से ग्रहण की गई थी। अपने पिता ऋषि बाजश्रवा द्वारा विश्वविजयी यज्ञानुष्ठान के आरम्भ में नचिकेता को दक्षिणा स्वरूप प्रदत्त किया गया था, गाभियों से नचिकेता को अपनी नजर में अत्यन्त हीन भावना का बोध होने पर उनके द्वारा बार-बार पिता से यह पूछा जाता रहा कि, ''हे पितः, मुझे दक्षिणास्वरूप किसको दान किया गया है?'' पिता द्वारा उन्हें यम के उद्देश्य से दान करने पर पुत्र नचिकेता ने सोचा, ''बहु के मध्य मैं उत्तम हूँ, कारण मैं आत्मद्रष्टा पुरुष हूँ, बहु के मध्य मैं मध्यम पुरुष हूँ, कारण मैं प्राणद्रष्टा पुरुष हूँ; किन्तु अब भी मैं अधम होने में सक्षम नहीं हूँ अर्थात् सर्वभूत विश्वरूप स्थूल जगत् को मैं प्राणमय आत्मारूप में अबतक दर्शन नहीं कर सका हूँ, इसीलिए शायद पिता ने मुझे यम के घर में प्रेरण किया था।''

यहाँ इन तीन भूमि में आत्म-उपलब्धि हेतु नचिकेता को यमालय में आकर तीन दिन तक उपवास करना पड़ा। यह स्थूल जगत् या हमारा स्थूल शरीर ही हुआ यमालय या मर्त्यभूमि। शरीर अर्थ से शीर्णता, क्षुद्रता अथवा संकीर्णता के मध्य खण्डितावस्था या सीमाबद्ध होकर रहना ही समझा जाता है। यहाँ आत्मदर्शन न होने से जीव मृत्यु से परित्राण प्राप्त कर अमृतलाभ नहीं कर सकता है। मृत्यु भी जो जीव के जीवन का एक अज्ञात अंश है, वह स्वयं की अनुभूति में उपलब्ध न कर पाने से जीवन की सार्थकता का लाभ नहीं होता है। इस कारण नचिकेता को मृत्युंजय होना पड़ेगा।

आत्मदान या आत्मदर्शन करने का नाम ''पूजा'' है; एवं इस पूजा का मंत्र है ''स्वाहा:''। ''स्वाहा:'' के अर्थ से ''आत्मदान'' करना है। निज को वाह्यविश्व के रूप में आत्मविस्तार करके अवलोकन कर निज को विश्वचेतना में व्यापृत कर आत्मदान करना पड़ता है एवं पुनराय विश्वरूप आत्मा को निज के मध्य परिग्रहण करना पड़ता है। इस प्रकार से आत्मा को दान एवं प्रतिग्रह करना ही प्रकृत ब्राह्मण का धर्म है। इसका ही नाम आत्मकेन्द्र पर लौट आना है; अर्थात् ''आत्मदर्शन'' या ''दक्षिणा'' है।

जो सर्वभूत आत्मा को देखते हैं एवं आत्मा में सर्वभूत का दर्शन करते हैं वे ही भगवान को वरणीय होते हैं। वे व्यक्ति ही भगवत् कृपा लाभ कर धन्य हो जाते हैं। जैसे बर्फ के भीतर जल छिपा हुआ रहता है, जल के मध्य तरंग, मेघ में विद्युत्, वायु में तुफान, बारुद में अग्नि और काठ के भीतर काठ निर्मित वस्तुऐं; वैसे ही आत्मा के भीतर 'वाक्' प्रच्छन्न रूप में रहता है। जैसे प्रदीप से सर्वदा आलोक क्षरित होता है, सूर्य से जैसे किरणों का विकिरण होता है वैसे ही आत्मा से नियत वाक् या कथन निर्गत होता है। आत्मा की शक्ति ही वाक् है। इसलिए जगत् के आत्मा-सूर्य को रव का देवता 'रवि' कहा जाता है। ये वाक् या कथन से अन्दर में जो ज्ञान या बोध जन्म लेता है उसको 'चिन्ता' या 'चिन्तन' कहा जाता है। मन मध्य सर्वदा जो चिन्ता का उदय होता है, उसका विश्लेषण करने पर कुछ कथन या वर्ण की समष्टि को पाया जाता है। इन वर्ण या अक्षरों का उलट-पलट होने पर नाना प्रकार की चिन्ता या बोध का स्फुरण होता है। जीव के भूमि में इस प्रकार कथन या चिन्तन एक से एक उदित होता हैं; समग्र कथन या बोध एक साथ उदित नहीं होता है। मानो एक कथन या बोध अन्तर में उदित हुआ एवं बाद में वह लुप्त होकर जब असंग, अव्यक्त अक्षय भूमि में चला गया, तब फिर और एक कथन मन में उदित हुआ। इस प्रकार बोध के मध्य से क्रम धारा में जीव विश्व का बोध करता है। मन में कितने कथन या चिन्तनों का उदय होता है। इन सब को आत्मबोध में सुषुम्ना के पथ में गुरूपोदिष्ट मतानुसार परिचालित करने से जीव निश्चित-निश्चिन्त होता है और इसी उद्देश्य से ही सूर्य-अर्घ्य प्रदान करने का विधान शास्त्रों में है। इस कारण प्रत्येक साधक को दीक्षा लेने की आवश्यकता होती है।

मनन या चिन्तन, जिससे त्राण मिलता है, वही हुआ 'मंत्र' या 'बीजमंत्र'। एक बीज के भीतर जैसे अनन्त वृक्ष छिपा हुआ रहता है, एक स्फुलिंग के भीतर जैसे विश्व ग्रासी अग्नि निहित रहती है, वैसे ही एक एकाक्षर बीजमंत्र के मध्य भी अनन्त शक्ति निहित रहती है। इस रुप में विश्वबोध, ज्ञान के भीतर चेतना में रहता है एवं इस ज्ञान को ही हम सब वचन या कथन रूप में प्रकाशित करते हैं। अतएव इस कथन के शब्द में या मंत्र में ही विश्व है, परन्तु मंत्र कहना और कथोपकथन करना एक नहीं, एक चेतना में या कथन में प्राणमय आत्मा का अवलोकन करना है। कथन की जो शक्ति में सृष्टि-स्थिति व प्रलय होता है, उसका नाम ''प्राण'' एवं उस शक्ति की पुन: कथन में प्रत्यावर्तन के काल का परिणाम ही होता है ''आयु'' एवं श्वास-वायु। 'प्राण' इसी श्वास-वायु को ही आश्रय करके चलता है।

प्राण के इस वहि:प्रकाश श्वास-प्रश्वास रूप का नाम हुआ ''काल''। काल ही जीव के कर्म का नियन्ता है। इस काल का अधीश्वर हुआ ''महाकाल''। इसलिए वे कालजयी पुरुष हैं। इस कारण साधक ''मंत्रयोग'' का अवलम्बन करें। मंत्र और योग से भिन्न कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि सब योग ही व्यर्थ हैं। ऋषिगणों ने वाक्य की प्रबल शक्ति को उपलब्ध करके ही मंत्रशक्ति के श्रेष्ठत्व को स्वीकार किया है, विभिन्न शास्त्र और दर्शन के माध्यम से।

निज के भीतर निज के दर्शन करने का पथ ही सनातन पथ है,

जो वेद का पथ है, सुषुम्ना का पथ है एवं अमृत का पथ है। प्राण के इस पथ से ही साधक को हृदयकेन्द्र के नित्य व शाश्वत अवस्था में जाना होगा। ओंकार मंत्र को अवलम्बन करके, ओंकार देह लेकरके, ओंकार रूपी तरणी का अवलम्बन लेकर के दुर्गम भव-पारावार को अतिक्रम कर हृदय में अनन्त चेतना केन्द्र पर हृद्पद्म में पहुँच कर साधक को नित्य सिद्ध होकर नित्य स्थिति लाभ पूर्वक अखण्ड महायोग सम्पूर्ण करना पड़ता है। ओंकार का ज्ञान होने से अपने आप को और कभी खोना नहीं पड़ेगा। ओंकार अमृत स्वरूप है। ओंकार का ज्ञान होना ही विश्व को ज्ञान होना है, स्वयं को ज्ञान होना है एवं आद्याशक्ति को ज्ञान होना है। एकमात्र ओंकार का ज्ञान होना ही प्रकृत साधना क्रियायोग है।

— ॐ —

ओंकार सर्वदेहव्यापी एक झंकार एवं अस्तित्व की एक घोषणा है। **—ऋषि अनिर्वाण**

क्रियायोग सम्बन्धित रचना

परमब्रह्म के साक्षी

श्रीश्रीमाँ

सद्‌गुरु क्रिया साधन की पद्धति बताते हैं। इस क्रिया की सहायता से आत्मबोधपूर्ण आनन्द की अनुभूति का आस्वादन होता है। साधक आत्मकौशल के द्वारा क्रिया पद्धतियों को सुचारु रूप से परिचालन करता है। हर समय साधक के मन में यह बोध होना चाहिए कि ब्रह्मविद्या एक art या कलाविद्या है। जो साधक-योगी जितना सुन्दर एवं सुचारु रूप से इसकी साधना करेगा, उसकी अनुभूत उपलब्धियाँ उतनी ही सुक्ष्मातिसुक्ष्म होंगी। एक बात हमेशा मन में धारण करनी चाहिए कि प्रत्येक क्रिया-पद्धति के साथ हर कौशल आभ्यन्तरिक रूप से संयुक्त है। साधक-योगी निजबोध के द्वारा इस विषय का विस्तृत रूप से ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम होता है। क्रिया-योग प्राण-साधना है, इसलिए प्राणायाम या श्वास परिचालन का कौशल ही इसका प्रधान लक्ष्य है; मन के विषय को कूटस्थ में दर्शन करना अर्थात् मन रूपी घटाकाश में जिस-जिस प्रकार के बोध के माध्यम से, चेतना के मध्य आकार स्फूरित होता है, वहाँ एकाग्रता में स्थिर होकर कूटस्थ के मध्य में दर्शन करना साधक के लिए परम् आवश्यक है। परन्तु साधना करते-करते जब शरीर और मन का पृथक ज्ञान होता है, तब साधना का कौशल मन के द्वारा परिचालित होकर सम्पन्न होता है। मेरी साधना जीवन के प्रारंभिक अवस्था का अनुभव है कि साधना के क्रम में कभी-कभी देहबोध एवं दर्शन विलुप्त होकर केवल अनुभूति का विकास होता था एवं आभ्यांतरिक ज्ञान कुछ ही दिनों में हृदय में प्रस्फुटित होता था। इसलिए मैं निजबोध के माध्यम से समझती थी कि किसी एक मुद्रा में प्रवीण होने के लिए सर्वप्रथम अविकृत रुप से शरीर को उचित ढंग से विशेष कौशल से संचालित करना होगा, अर्थात् क्रियायोग की पद्धतियों का अति सुचारुरूप से अभ्यास करना जरुरी है। उचित पद्धति से शरीर का संचालन करने से एवं प्रत्येक मुद्रा के साथ मानसिक स्थिरता पूर्वक मनः क्रिया से अंतर्चेतना की विशेष उन्नति होती है। तब आत्मविवेक एवं बुद्धिशक्ति स्वयं जाग्रत होती है एवं ज्ञानाग्नि आत्मसत्ता के मध्य स्वतः प्रज्वलित होती है। परिणामतः मन की मलिनता का नाश होना शुरु होता है। स्थूल क्रिया जब तक मानस क्रिया में रूपान्तरित नहीं होती है तब तक साधन नीरस लगता है। इस अवस्था में प्रत्येक साधक को धैर्य धारण करना अति आवश्यक है, नहीं तो पथभ्रष्ट होने की संभावना रहती है। जब शरीर एवं मन एक होकर क्रियासाधन होता है तब साधना सरस होती है, एवं अति उत्साह से साधक आत्म साधना के पथ में द्रुत गति से अग्रसर होता है। योनि-मुद्रा करते-करते ऐसी अवस्था होती है कि क्रिया न करने से भी अपने आप कूटस्थ में दर्शन होता है। कभी-कभी हीरक सदृश ज्योति-बिन्दु अंधेरे आकाश में ध्रुवतारे की तरह प्रज्वलित होकर प्रतिभासित होता है, फिर कभी-कभी उस आलोक के चारों ओर उज्वल नीले रंग का वलय रेखा के साथ दर्शन होता है, और कभी-कभी गाढ़े नीले रंग का स्थिर बिन्दु गगन मंडल के किसी खास स्थान पर परिलक्षित होता हैं। इसी तरह के और भी विभिन्न प्रकार के दर्शन होता है। ऐसा सुना है कि जिन साधकों का जन्मान्तर का प्रबल संस्कार होता है उन साधकों को प्रारंभिक अवस्था में ऐसे दर्शन होते हैं। साधारण साधकों को ऐसे दर्शन होने में कुछ विलंब होता है। मन की एकाग्रता, धैर्य, स्थिरता सभी साधक के स्वभाव पर निर्भर करता है, एवं महात्माओं के निकट सुना है कि इसी अनुसार दर्शन, अनुभूति और उपलब्धि सब होता है।

[*क्रमशः*]

—बंगला पुस्तक ''परमब्रह्मेर साक्षी'' से उद्धृत

—हिन्दी अनुवाद : मातृचरणाश्रित श्रीबैजनाथ पाठक